प्रकाशक
डॉ० मोतीलाल मेनारिया
संचालक
राजस्थान साहित्य अकादमी
उदयपुर।

प्रथम संस्करण
१९६१

मूल्य
एक रुपया पचास नये पैसे

मुद्रक
जगन्नाथ यादव
अध्यक्ष
केशव आर्ट प्रिण्टर्स

प्रकाशकीय निवेदन

*

स्व० रवीन्द्रनाथ टागुर की कृतियाँ आज भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, अपितु विश्व-साहित्य में समादरणीय हैं। विभिन्न भाषाओं में उनके अनुवाद हुए हैं। इतना ही नहीं, कई विद्या-व्यसनी तो रवीन्द्र, शरत् और बंकिम का साहित्य समझ पाने के लिये ही बंगला सीखते हुए देखे गये हैं।

साहित्यकार चाहे किसी भी भाषा में रचना करे, वह साहित्य मात्र उसी भाषा-भाषी क्षेत्र के लिये न होकर समूची मानवता के लिये होता है। इसीलिये उसकी आवाज को जन-जन तक पहुँचाने का दायित्व निभाया जाता है और इसीलिये भाषा और लिपि के एकीकरण की बात सोची जाती है।

राजस्थान साहित्य अकादमी ने रवीन्द्र शताब्दी-समारोह के अवसर पर यह आवश्यक और उपयुक्त समझा कि विश्व-कवि की कुछ रचनाओं का राजस्थानी-अनुवाद प्रकाशित किया जाय प्रस्तुत प्रकाशन उसी निश्चय की क्रियान्विति है। अनुवाद या रूपान्तर का काम वस्तुतः बड़ा कठिन है भाषाओं का जन्म और विकास वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर होता है। अतः एक भाषा की अभिव्यंजना किसी दूसरी भाषा में पूर्णरूपेण समाहित नहीं हो पाती। फिर भी श्रेष्ठ रचनाओं के अनुवाद किये जाने के महत्त्व से असहमति प्रकट नहीं की जा सकती।

प्रस्तुत प्रकाशन अपने उद्देश्य में कितना सफल रहा है, इस मूल्यांकन की अपेक्षा हमसे नहीं, पाठकों से ही की जानी चाहिये।

डॉ० मोतीलाल मेनारिया

संचालक,

राजस्थान साहित्य अकादमी,

उदयपुर।

मदनगोपाल शर्मा

जनम-स्थान : सामोद (जयपुर)
जन्म-तिथि : २० मई १९२६ ई०

प्रस्तुत 'पद्य-कथा' के प्रस्तोता-कवि मदनगोपाल शर्मा को काव्य-प्रणयन की प्रेरणा अपने किशोर-काल से ही रही है। राष्ट्रकर्मी परिवार से सम्बद्ध राजनीतिक विरासत के धूमिल आँगन को छोड़कर वकालत और प्रशासकीय अनुभव की सँकरी गलियों से गुजरते हुए हर्ष और प्रधर्ष से अनुप्राणित इस साहित्य-पथिक को अन्ततः वीणापाणि की स्वरछाया में ही विश्रान्ति मिल सकी।

रस और व्यंग के धनी इस शिल्पी की रचनाओं में मर्मगीति और समाजनीति दोनों के स्वर मुखर रहे हैं। प्रबंध-पटुता कवि की अपनी विशिष्टता रही है। रस-स्रष्टा के साथ ही साथ वह मर्मद्रष्टा भी हैं। आलोचना के क्षेत्र में भी उनसे अनेक आशाएँ हैं। आपके अनेकों गीत-वार्ताएँ और लगभग डेढ़ दर्जन गीति-नाट्य आकाशवाणी के विविध केन्द्रों से प्रसारित हो चुके हैं। अपने काव्य-संग्रहों—स्वर्ण-विहान, सुमनों की मुसकान, गीति वितान और उन्मुक्त उड़ान में कवि की प्रेरणा ने काव्य की विविध क्षितिजों को स्पर्श किया है। कवि के रूप मे हिन्दी और राजस्थानी का समान वरदान उन्हें प्राप्त है। वर्तमान में शर्माजी राजस्थान-कॉलेज में हिन्दी प्राध्यापक हैं और राजस्थान के सन्त साहित्य पर शोधकार्य में रत हैं।

पता—रामकुटीर, गोपालपुरा,
दुर्गापुरा रोड, जयपुर।

दो शब्द

•

प्रस्तुत पुस्तक गुरुदेव रवींद्रनाथ की उन्नीस कथात्मक कविताओं का अनुवाद है। इन कविताओं का चयन मैंने उनके काव्य-संग्रह 'संचयिता' और 'कथा-कहानी' (कथा और कहानी) से किया है। चयन में कोई विशेष दृष्टिकोण नहीं रहा फिर भी कविताओं की सरलता और लोकप्रियता का ध्यान मैंने अवश्य रखा है। यद्यपि इस संग्रह की एक कविता 'दे दिन' (दो काल) कथात्मक नहीं है तो भी उसकी सरसता और काव्य सौष्ठव के कारण मैं उसके अनुवाद का लोभ संवरण नहीं कर सका हूं।

अनुवाद में मूल के भाव और लय के अधिकतम सादृश्य का निर्वाह ही मेरा मुख्य लक्ष्य रहा है। शब्द रूपी व्याकरण के नियमों में कवि को (विशेषतः अनुवाद कार्य में) उदार स्वतंत्रता देने का मैं सदा से पक्षपाती रहा हूं। तद्विषयक पक्ष समर्थन का उचित अवसर यह नहीं है अतः आत्म निवेदन से ही यहीं संतोष माने लेता हूं

इस अनुवाद का मुख्य श्रेय किशनगढ़ के मेरे अभिन्न मित्र डा० सत्यकुमार बोस को है। वस्तुतः यह उन्हीं के आग्रह और अनुग्रह का प्रसाद है।

अभिसार

संन्यासी उपगुप्त,
मथुरापुरी प्राचीर तले एकदा थे सुप्त ।
हो गए थे नगरी के दीप वायु-विपित
हो चुके थे पौर भवनों के द्वार विजड़ित
नक्षत्र निशीथ के,
श्रावण-गगन-घन-मेघाच्छन्न हुए लुप्त ।

नूपुर शिंजित पद,
आकर किसी का लगा संन्यासी के वक्ष में ।
संन्यासी प्रवर एकाएक चौंक कर जागे
स्वप्न जड़िमा मराल पलक तटों से भागे
अयाचित आकस्मिक
दीपालोक हो उठा असह्य युग-चक्षु में ।

नगरी की नर्तकी,
चली अभिसार हेतु यौवन मदंगजा ;
अंग पर अंचल था शोभित सुनील वर्ण
रुन-झुन रव बजते थे स्वर्ण-आभरण
पदाघात होते ही,
रुक गई वासवदत्ता रूपसी अनंगजा ।।

आगे कर दीप को,
देखी गणिका ने यति की नवीन गौर कांति ।
सौम्य स्मिति व्याप्त गौर तरुण वदन में
करुणा-किरण की पुलक थी नयन में
शुभ्र भव्य भाल पर,
शोभित थी शुभ्र शारदेन्दु की विमल शांति ।

कहती है रमणी,
गद्गद कंठ, नयनों में मुग्ध लज्जा है ।
क्षमा अपराध मेरा संन्यासी कुमार हो
कर दें पवित्र गृह, करुणा अपार हो ।
यह धरणी का तल,
कठिन कठोर यह, आपकी न सज्जा है ।'

'अयि लावण्य प्रतिमे ।
आग्रह तुम्हारा अभी मान नहीं पाएँगे
समय हमारा अभी हुआ नहीं गणिके
जहां तुम्हें जाना, अभी जाओ वहां धनिके
समय आएगा तो,
आप ही तुम्हारे पास हम चले आएँगे'

अकस्मात् झंझा ने,
तड़ित शिखा से किया नभ में विपुल हास ।
रम्या कोमलांगी वह काँप उठी त्रास से
प्रलय का शंख बजा कुपित वातास में
घोर परिहास से
वज्र नभ में विकट कर उठा अट्टहास

उसी वर्ष चैत्र के
मदिर मधुमास की सुहानी एक संध्या थी।
जबकि वातास घूमता था मंदगंधाकुल
पथ पर शाखाओं ने धारण किए मुकुल
राजवन में खिले—
पाटल बकुल, प्रमुदित निशिगंधा थी।

दूर से पवन पर
बह कर आ रहे हैं स्वर मुरली के मंद्र।
जनहीन नगरी थी, नगर निवासी सब
गए मधुवन में मनाने को थे पुष्पोत्सव
शून्य नगरी निहार,
हँस उठा मंद मंद पूर्णिमा का शुभ्र चंद्र।

जनहीन पथ में,
कौन चांदनी में चला जाता यह यात्री है?
शीश पर छाया तरु वीथिका का है प्रसार
कोकिल की कूक गूँज उठती है बार-बार
इतने दिनों के बाद,
योगी क्या तुम्हारी आई अभिसार रात्रि है?

नगरी को त्याग कर
दंडी चले एकांत प्राचीर-बाह्य प्रांत में।
खड़े हुए आकर वे परिखा-परछांह में
आम्र-उपवन की सघन श्याम छांह में
कौन यह रमणी,
पड़ी एकाकिनि यों है उनके पदांत में?
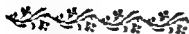
दारुण मसूरिका
रोग से भरे थे उस युवती के सर्वाङ्ग
रोग कालिमा से तन उसका था परिच्छन्न
जानकर उसको अस्पर्श्य पुण्य शंकापन्न
बाहर नगर से
फेंका प्रजागण ने समझ उसे विकलांग ।।

बैठ गए संन्यासी
उठा लिया उसका गलित शिर अङ्क में
छोड़ा कुछ जल शुष्क युगल अधर पर
शीश पर पढ़ दिए फिर कुछ मंत्र-स्वर
निज शुचि कर से
गात किये लिप्त शीत चंदन के पंक में

झरते मुकुल हैं
कूजते हैं कोकिल, है ज्योत्स्नामत्त यामिनी
'किसने बचाए मेरे प्राण !' पूछा रोगी ने
'आया अभिसार हेतु आज'-कहा योगी ने
'आज ही की रात्रि में,
समय हुआ है वासवदत्ता महाभागिनी ।'

होली का खेल

[राजस्थान]

पत्र दिया है पठान जालिम केशरखां को ।
भूंपून से भून्नाग राजा की रानी ने,
'युद्ध-लिप्सा का मियां होगया क्या अन्त है ?
बीता जाता देखते ही देखते वसंत है
होली खेलने की मेरी इच्छा, आओ सैन्य ले
सैन्य जो कि सुविख्यात दुर्जय दुरंत है'
युद्ध-एक हार कर कोटा नगर त्याग कर
भंपून से खत भेजा राजपूतनी ने ।

पत्र पढ़ केशरखां हँस पड़ा खुल कर
आन्तरिक सुख से मरोड़ा निज मूँछों को
देख एक पगडी सुरंगी, रखी सिर पर
सुरमा भी आंजा फिर आंखों में हुलसकर
हाथ मे रूमाल लिया भीनी-भीनी गंध भरा
बार-बार फटकारा दाढ़ी को उमंगकर
सोचकर, रंग रानी खेलेगी पठान संग
केशर ने खुश हो मरोड़ा निज मूँछों को ।

फागुन महीना है, बकुल-वन-वीथिका में
दक्षिण पवन मतवाला सरसाया है
मंजरित आज आम्रवन में हुआ मुकुल
आज क्यों किसी को सुनने लगे भ्रमर-कुल
गुन-गुन जाने मन ही मन क्या गुनते से
गुंजरित भृङ्ग घूमते स्वच्छंद गंधाकुल
आज दल का दल पठान सैन्य मदमत्त
कैथूनपुरी में होली खेलने को आया है।

वह थी संध्याकाल की सुहानी झुटपुट वेला
कैथूनपुरी के रमणीय राजवन में
आकर खड़े हुए पठान उपवन में
छेड़ती है बंसी राग मुल्तानी धुन में
एक सौ सुंदर सब दासियाँ रानी की आईं
होली खेलने के लिए हो प्रसन्न मन में
झुरमुट ओट में थे रीझा-रीझा झाँकता-सा
झूलता था राग-रंगा रवि भी गगन में।

पग की धमक, घूम-घूम जाते घाघरे हैं
उड़े जाते ओढ़ने हैं दखिन पवन में
दाहिने हाथों में सब थाली लिए फाग की
झूलती कटि में पिचकारी रंग-राग की
झनक-झुनक इठलाती हुई चलती है
बाएँ हाथ जल भरी झारी है गुलाब की
उड़ रहे ओढ़ने हैं, बाँकी छबीलियों का
उमड़ रहा है दल आज राजवन में।

आँखें नचा-नचा, मंद मुसका, प्रसन्न मन
कहते हैं ऐसे पास आकर केशरखाँ
'सुन्दरि ! अनेक युद्धों में बची हमारी जान
आज के प्रणय-द्वन्द्व में न पर बचेंगे प्राण !'
सुन यह बात, अट्टहास में बदल गई
रानी की सहेलियों की मंद-मंद मुसकान
करते सलाम लाल पाग हिला झुक-झुक
सिर तक दाँया हाथ लाकर केशरखाँ ।

शुरू हुई घोर मचामची फिर फागुन की
उड़ रहा है अबीर लाल संध्याकाश में
नया रंग चटक उठा बकुल फूल में
रक्त रेणु झरी पड़ती है तरु-मूल में
सुन क्षत्राणियों का अट्टहास, पक्षियों का
कूजन सहम, पड़ गया, भय भूल में
अरुण कुज्झटिका के राशि-राशि घन ये
आगए कहाँ से घिर-घिर संध्याकाश में ?

केशरखाँ क्षुब्ध मन ही मन है सोच रहा
चढ़ता नहीं है नयनों में उन्माद क्यों ?
उच्छ्वास वक्ष में नहीं हैं क्यों उमड़ते
कंकण क्यों कर्ण-कटु सा है रव करते
रङ्ग की उमङ्ग छकी इन बाँकी नारियों के
नूपुर भी आज कैसे बेसुरे से बजते
छाई हुई है क्यों एक उन्मन विवशता सी
घेरे लेता हृदय को खिन्न अवसाद क्यों ?'

प्रण-रक्षा

•

'देखो आ रहे हैं वे मरहट्टे दस्युगण
करो सब युद्ध-साज'
अजमेरगढ़ में कहते पुकार कर
दुर्गेश दुमराज
दोपहरी के समय हर कोई अपने
घर में रहा था सेक रोटी जब ज्वार की
तभी दुर्ग तोरण में नगाड़े की गूँज सुन
बाहर आगया छोड़ चिंता घर-बार की
चढ़ के प्राचीर पर देखा तब सबने
दक्षिण में दूर पर
मराठों के घोड़ों से उड़ रही धूल है
नभ में उमड़ कर
'मराठों का टिड्डीदल हो कृपाण-वह्नि में
यहीं भस्मसात आज
'भुलस-भुलस मरे लौट कर जा न सकें'
गरजा यों दुमराज।

दूत मारवाड़ से आया और बोला यों
व्यर्थ यह सैन्य साज

देखो, यह देखो, यह प्रभु का आदेश है
दुर्गेश दुमराज !
सिंधिया है आ रहा, साथ में है उसके
युद्ध-विद्या-कुशल फिरंगी एक सेनापति
ससम्मान सौंप दो उसे तुम दुर्ग को
आज यही आज्ञा है स्वामी की तुम्हारे प्रति
हुई विजय-श्री है विमुख संयोग से
आज विजयसिंह पर,
सौंपना ही होगा आज अजमेरदुर्ग को
बिना ही किए समर'
'स्वामी के निदेश में, वीर के निवेश में
हो गया विरोध आज'
दीर्घ निश्वास ले कहते विवश से
दुर्गेश दुमराज

मारवाड़ दूत ने घोषणा की सत्वर
'छोड़ो-छोड़ो रणसाज !'
पत्थर की मूर्ति सा खड़ा का खड़ा ही रहा
किन्तु स्तब्ध दुमराज
जाती-जाती बेला में सांध्यम्लान सुनसान
धू-धू करता है, दूर-दूर चरती हैं धेनु
तरुतल छाया में सकरुण रव से
बजा रहे कुछ ग्वाल-बाल हैं विकल वेणु
जब मैंने दुर्ग का भार लिया तब था
प्रण किया मन में
सौंपूंगा न शत्रु को दुर्ग यह, जब तक
प्राण शेष तन में

प्रभु के आदेश से हाय उसी व्रत को
तोड़ना पड़ेगा आज
यही सोच-सोच कर छोड़ते हैं उच्छ्वास
दुर्गेश दुमराज

राजपूत सेना ने त्याग दिया क्षोभ और
लज्जा से समर-साज
नीरव खड़े रहे किंतु दुर्ग द्वार में
दुर्गेश दुमराज ·
गैरिक वसन धार, छवि बिखरा अपार
उतर रही है संध्या पश्चिमी मैदान पार
मराठों का सैन्य दल उठा धूल के बादल
आकर उमड़ तभी भड़ा हुआ दुर्ग द्वार
'कौन वह सोया है पास वहीं द्वार के
उठो, उठो, खोलो द्वार,
सुनना नहीं है क्या ?' प्राणहीन देह हाय
क्यों कर सुने पुकार ?
मालिक के कर्म में और वीर धर्म में
मिटाने विरोध आज
अमर हुआ है तज प्राण दुर्ग द्वार में
दुर्गेश दुमराज

•

ब्राह्मण

[छांदोग्योपनिषद् ४ प्रपाठक ४ अध्याय]

वन की तमच्छाया में सरस्वती तट पर
अस्त हो गया है श्रांत क्लांत सांध्य दिनकर
शीश पर समिधा का भार कर आहरण
आश्रम को लौटे आ रहे हैं ऋषि पुत्रगण
लाए घेर वन से तपोवन में शिष्य जन
स्निग्ध शांत आँखों वाली श्रांत होमधेनुगण
संध्या स्नान आदि नित्य कर्म कर समापन
सम्मिलित सबने ग्रहण किया निजासन
गौतम के चारों ओर कुटी के आँगन में
बैठ गए होमाग्नि के ज्योति-विकीरण में
ऊपर, अनंत शून्य निभृत विजन में
ध्यान मग्न महा शांति छाई है गगन में
सारी तारकावली है बैठी कौतूहल स्तब्ध
शिष्य मंडली की भाँति मौन और निःशब्द
भंगकर मौन, बोले गौतम, हो सावधान
'वत्स, कहता हूँ ब्रह्मविद्या, करो अवधान'
ठीक तभी निज कर सम्पुट में अर्घ्य ले

तरुण बालक आया कुटी के प्रांगन में
नमित हो, ऋषि के चरण-पद्म पर से
बोला, पिक-कंठ से सुधा से स्निग्ध स्वर से
'भगवान् ! ब्रह्म-विद्या शिक्षा अभिलाषी हूँ
आया हूँ दीक्षा के हेतु, कुरु-क्षेत्र वासी हूँ
सत्यकाम नाम मेरा ।' सुन स्मित हास से
ब्रह्मर्षि ने कहा स्नेह-स्निग्ध शांतभास से
'कुशल हो सौम्य, गोत्र जाति क्या तुम्हारी है
क्योंकि मात्र विप्र ब्रह्म-विद्या अधिकारी है'
बालक यों बोला मन में शंका सी मानता
'क्षमा करें भगवान् ! गोत्र नहीं जानता
माँ से पूछ आऊँ कल, मिले यदि अनुमति'
यह कह ऋषि-चरणों में करके प्रणति
चला गया सत्यकाम घनवनवीथी से
पैदल हो पार क्षीण स्वच्छ सरस्वती से
वालू के किनारे सुप्ति-मौन ग्राम में निविष्ट
सत्यकाम जननी की कुटी में हुआ प्रविष्ट
क्षीण सांध्य-दीप का घर में उजाला था
माँ थी प्रतीक्षा में द्वारे खड़ी, नाम ज्वाला था
उसे देख लगा लिया वक्ष से विह्वल हो
चूम कर भाल, बोली 'क्षेम हो, कुशल हो'
छूटते ही पूछा सत्यकाम ने, 'माँ अविराम
कहो किस वंश में मैं जन्मा, क्या पिता का नाम ?
ब्रह्म-ज्ञान हेतु आज गौतम ऋषि के द्वार
गया, तो वे बोले यह द्विज का ही अधिकार
माता क्या हमारा गोत्र बोलो, झट बोलो न

चुप क्यों हो, कहती नहीं क्यों ? मुख खोलो न'
सुन यह जननी ने, कहा नत मुख से
यौवन में वत्स घोर दारिद्रय के दुख से
घर-घर परिचर्या की, तुम्हें पाया है
गीले में सो सदा, तुझे सूखे में सुलाया है
जन्म लिया तूने मुझ हीना माँ की गोद में
पाकर तुझे सदा मानती आई मोद में
जानती नहीं मैं तेरा गोत्र या पिता का नाम
मैं हूँ तेरी जननी, तू मेरा सुत है सत्यकाम'
अगले ही दिवस तपोवन में अवदात
तरु-शिखरों पर जगा नया-नया प्रभात
तापस किशोर सब अप्रतिम औ' अशोक
शिशिर-सुस्निग्ध जैसे बालारुण का आलोक
भक्ति-अश्रुधौत कांति जैसे नव-पुष्प-छटा
जिनकी है प्रातस्नात स्निग्ध छवि, आर्द्र जटा
सौम्य मूर्ति है जो, दीप्ति जिनकी है काया में
गौतम को घेर, बैठे वृद्ध-वट-छाया में
ध्वनित विहगवृन्द का है कलरव गान
मधुप गुंजन गीति, रम्य जलकल तान
सग-संग गूंज रहे युवाकंठ से मधुर
शांत सामगीति के गंभीर सम्मिलित सुर
ठीक ऐसे समय प्रविष्ट हुआ सत्यकाम
नत हो, ऋषि के पदपद्म में किया प्रणाम
निश्छल नयन मिला, बैठ गया चुपचाप
आशिष आचार्य ने दे प्रश्न किया तब आप
'गोत्र क्या तुम्हारा है हे सौम्यप्रियदर्शन ?'

उठाकर भाल, कहा बालक ने, भगवन् !
पूछा जननी से, यही उसने बताया है
बहु परिचर्या से मैंने तुझे पाया है
जनमा तू भर्तृहीना जननी की गोद में
पाकर मुझे सदा मनाती आई मोद में
गोत्र जानती न तेरा।' सुन यह वार्त्ता
छात्रों ने शुरू की घुसपुस अपनी कथा
मधुचक्र में ज्यों लोष्ठपात से हो हलचल
पतिंगों की भांति सब हुये विस्मय-विकल
निर्लज्ज अनार्य का विलोक यह अहंकार
कोई हंसता है कोई दे रहा है धिक्कार
आसन को त्याग, मुनि खड़े हुए तत्क्षण
फैला निज बाहु, किया बालक का आलिंगन
बोले—'तुम अब्राह्मण नहीं हो कदापि तात
तुम द्विजोत्तम वत्स, तुम सत्यकुल जात'

●

राज-विचार

•

विप्र बोले, 'स्त्री थी मेरी रात जिस घर में
चोर वहाँ पहुँचा सतीत्व नष्ट करने
पकड़ लिया है उसे, दूँ क्या दंड, आज्ञा हो ?'
'मृत्यु' बोले उससे रतन रावराजा यों।

भागा आया चर, बोला, 'चोर तो थे युवराज-
बाँध उन्हें विप्र ने सुबह काट डाला आज
लाया हूँ पकड़ उस विप्र को, क्या सजा हो ?
'मुक्ति' बोले उससे रतन रावराजा यों।

•

नकलगढ़

[राजस्थान]

करूँगा न जल-स्पर्श चित्तौड़ राणा का प्रण।
'बूँदी दुर्ग पृथ्वी पर रहेगा यावत् क्षण॥
'कैसी प्रतिज्ञा है यह, मानव असाध्य काज।
कैसे सिद्ध होगा आज' कहते हैं मंत्रीगण।
राणा ने कहा 'असाध्य कार्य तो साधूँगा प्रण॥'

बूँदी दुर्ग योजन चित्तौड़ से है तीन दूर।
वहाँ हाड़ावंशी राजपूत सब महाशूर॥
हाम् दुर्गरक्षक हैं जानते नहीं जो भय।
जिसका प्रमाण सब राणा को मिला भरपूर।
हाड़ावंशी बूँदी दुर्ग योजन है तीन दूर॥

मंत्री बोले, 'कौशल से, लगा कर सारी रात।
बूँदी का कृत्रिम दुर्ग गढ़ दो,' होते ही प्रात॥

आकर स्वयं राणा कर देंगे धूलिसात्,
नहीं तो क्या बात के लिये करेंगे आत्मघात।
मंत्री ने कृत्रिम दुर्ग बना दिया रात-रात॥

कुंभ एक राणा का था भृत्य हाड़ावंशी वीर।
मृगया से लौट रहा कंधे पै धनुष तीर॥
बोला, कौन बूंदी का नकल किला नष्ट कर,
हाड़ावंशी क्षत्रियों का कर देगा नत शिर।
नकल किले की लाज रक्खूंगा मैं हाड़ावीर॥

तोड़ने नकल-किला आये राणा महाराज।
'दूर रहो !' कड़के यों कुंभ, ज्यों गिरी हो गाज॥
नाम से बूंदी के खेला ! सहूंगा न अवहेला।
मिट्टी के किले की लाज, रक्खूंगा दे प्राण आज।
गरजे यों कुंभ 'दूर रहो राणा महाराज !'

भू पर जानुपात कर लेकर धनुष शर।
कुंभ अकेला ही बचा रहा है बूंदी का गढ़॥
घेर लिया राणा की सेना ने, काट डाला शोश,
गिरा वीर खेलागढ़ के हैं सिंह द्वार पर।
रक्त से है धन्य हुआ बूंदी का नकल गढ़॥

विवाह

[राजस्थान]

•

एक ही पहर रात हुई है व्यतीत अभी ,
मुहुर्मुहु गूंज उठता है सुमधुर शंख ॥

वर-वधू परिणय-वेदी पर चित्रवत् ,
आंचल से बद्ध खड़े हुए हैं नयन नत ।
पौर वनिताएं सब खिड़की के खोल पट ।

घूंघट की आड़ से हैं देख रही निश्शंक ,
वर्षा की रात्रि में सघन मेघ गर्जना के ।
संग-संग बजता है मांगलिक लग्न-शंख ।

थम गई ठिठक ईशान कोण में है हवा ।
मेघाच्छन्न नभ हुआ, छा गई अंधेरी है ॥

सभाकक्ष में सहस्र दीपालोक अपलक ,
मणिमालाओं की है दृगों में मारते झलक ।
कौन सभा बीच तभी आया यह यकायक ॥

द्वार पर तभी बज उठी रण भेरी है,
चौंक उठे सभासद वर को लिया है घेर।
सब ने चकित आँखें उधर ही फेरी हैं॥

सेहरा लगाए मेड़ता के राजपुत्र से।
करता निवेदन है ऐसे मारवाड़ दूत॥

युद्ध ठना शत्रु से करो न देर एक क्षण।
राजा रामसिंहजी भी जा रहे हैं आज रण॥

उनका यही है आप सबको निमंत्रण।
आप भी पधारे सब मेड़तिया राजपूत॥

जय, जय, जय, राजारामसिंह की हो जय!
गरज-गरज उठता है मारवाड़ दूत॥
जय, जय, जय, राजा रामसिंह की हो जय।
मेड़ता-पति ने किया घोष ऊर्ध्व स्वर से॥

काँप उठी छाती दुलहिन की सिहर कर,
छल-छल बह चले दोनों दृग निर्झर।
करते निनाद वर यात्री सब समस्वर॥

जय, जय, जय, राजा रामसिंह की हो जय,
मेड़ता कुमार अब अधिक न अवसर।
दूत महाराज का यों बोला उग्र स्वर से॥

व्यर्थ ही उठी है गूँज उल्लसित हर्ष ध्वनि।
व्यर्थ गूँज-गूँज उठते हैं माँगलिक शंख॥

बांधी हुई श्रांचल की गांठ खोल कर वर
(श्राँखों ही श्राँखों में देखा दोनों ने परस्पर)
बोला, 'प्रिये असमय ले रहा हूँ अवसर ॥

मृत्यु का निमंत्रण है दो मुझे विदा अशंक,
व्यर्थ ही उठी है गूँज उल्लसित हर्ष-ध्वनि ।
व्यर्थ गूँज-गूँज उठते हैं मांगलिक शंख ॥

राजवेश से ही सेहरे को सिर पर धारे ।
घोड़े पर चढ़ चल पड़ा मेड़ता कुमार ॥

लेकर मलिन मुख श्रौर नम्र नत शिर,
नव-वधू श्रंत:पुरी में गई लौट फिर ।
धीरे-धीरे बुझ गए दीप भी, हुआ तिमिर ॥

राजा की सभा में फैल गया घन अन्धकार,
कंठ में पड़ी है माला सेहरा है सिर पर ।
घोड़े पर चढ़ चल पड़ा मेड़ता-कुमार ॥

आंचल से अश्रु पोंछती हुई माँ कहती है ।
वधू वेश खोल दे री हाय हतभागिनी ॥

शांत मुख से यों कन्या माँ से लगी कहने,
पैर पड़ूँ, दो न निज अश्रु तुम बहने ।
वधू सज्जा मेरी देह पर हो दो रहने ॥

उनकी बनूँगी मेड़ता में अनुगामिनी,
सुनकर, माथा ठोक, रोती हुई माता बोली ।
'कहती है क्या तू यह हायरी अभागिनी !'

घर के पुरोहित ने भी देकर आशीर्वाद।
शालि और दूर्वा से अभिषिक्त किया माथ॥

चढ़ गई कन्या तब शीघ्र चतुर्दोल पर,
पुरनारीगण सब रहे हुलूध्वनि कर।
रंगारंग वेष धर दास-दासी-अनुचर॥

पंक्तिबद्ध चल पड़े बालिका के साथ-साथ,
जननी ने आकर हो हर्षित कपोल चूमा।
पिता ने आकर रक्खा माथे पै वरद हाथ॥

निशीथ बेला में नभ को भी आलोकित कर।
कौन आज आया है रे मेड़तापुरी के द्वार?

बंद करो बाजा कहते ही छाई स्तब्धता-सी,
शोर हुआ, पालकी को ठहराओ दास-दासी।
करने को एकत्र हुए हैं मेड़ता-निवासी॥

मेड़ताधिपति की चिता का साज शृंगार,
मेड़ता नरेश जब युद्ध-हत हुए आज,
कौन दुस्समय में है आया नगरी के द्वार?

बजने दो बाजे, रोको मत, बजने दो बाजे।
पालकी से झाँक कर कहा नव-वधू ने॥

लग्न की पवित्र वेला आज नहीं टलेगी,
आँचल की गाँठ इस बार नहीं खुलेगी।
मंत्र पढ़ो, यह घड़ी फिर नहीं मिलेगी॥

बांधी हुई प्रांचल की गांठ खोल कर वर
(प्रांखों ही प्रांखों में देखा दोनों ने परस्पर)
बोला, 'प्रिये प्रसमय ले रहा हूं अवसर ॥

मृत्यु का निमंत्रण है दो मुझे विदा प्रर्धांग ,
व्यर्थ हो उठी है गूंज उल्लसित हर्ष-ध्वनि ।
व्यर्थ गूंज-गूंज उठते हैं मांगलिक शंख ॥

राजवेश से ही सेहरे को सिर पर धारे ।
घोड़े पर चढ़ चल पड़ा मेड़ता कुमार ॥

लेकर मलिन मुख और नम्र नत शिर ,
नव-वधू अंत:पुरी में गई लौट फिर ।
धीरे-धीरे बुझ गए दीप भी, हुआ तिमिर ॥

राजा की सभा में फैल गया घन अन्धकार ,
कंठ में पड़ी है माला सेहरा है सिर पर ।
घोड़े पर चढ़ चल पड़ा मेड़ता-कुमार ॥

प्रांचल से अश्रु पोंछती हुई मां कहती है ।
वधू वेष खोल दे री हाय हतभागिनी ॥

शांत मुख से यों कन्या मां से लगी कहने ,
पैर पड़ूं, दो न निज अश्रु तुम बहने ।
वधू सज्जा मेरी देह पर हो दो रहने ॥

उनकी बनूंगी मेड़ता में अनुगामिनी ,
सुनकर, माथा ठोक, रोती हुई माता बोली ।
'कहती है क्या तू यह हायरी प्रभागिनी !'

घर के पुरोहित ने भी देकर आशीर्वाद।
शालि और दूर्वा से अभिषिक्त किया माथ॥

चढ़ गई कन्या तब शीघ्र चतुर्दोल पर,
पुरनारीगण सब रहे हुलुध्वनि कर।
रंगारंग वेष धर दास-दासी-अनुचर।

पंक्तिबद्ध चल पड़े बालिका के साथ-साथ,
जननी ने आकर हो हर्षित कपोल चूमा।
पिता ने आकर रक्खा माथे पे वरद हाथ॥

निशीथ वेला में नभ को भी आलोकित कर।
कौन आज आया है रे मेड़तापुरी के द्वार?

बंद करो बाजा कहते ही छाई स्तब्धता-सी
शोर हुआ, पालकी को ठहराओ दास-दासी।
करने को एकत्र हुए हैं मेड़ता-निवासी॥

मेड़ताधिपति की चिता का साज शृंगार,
मेड़ता नरेश जब युद्ध-हत हुए आज,
कौन दुस्समय में है आया नगरी के द्वार?

बजने दो बाजे, रोको मत, बजने दो बाजे।
पालकी से झाँक कर कहा नव-वधू ने॥

लग्न की पवित्र वेला आज नहीं टलेगी,
आँचल की गाँठ इस बार नहीं खुलेगी।
मंत्र पढ़ो, यह घड़ी फिर नहीं मिलेगी॥

प्रणय रचेगा इस दीप्त चितानल में,
बजने दो बाजे, रोको मत, बजने दो बाजे।
पालकी से झाँक कर कहा नव-वधू ने॥

मेड़ताधिपति वर-वेश में चिता पर सोए।
गले में है मोतियों की माला पहने हुए॥

डोला से उतर तब आयी वह वीर नारी,
पति के रुधिर रंगे वस्त्र से दी बाँध सारी।
सिरहाने बैठ गई वह धन्या सुकुमारी॥

पति का मस्तक निज अंक में लिए हुए,
मेड़ताधिपति संग सो गई चिता पर।
निशीथ-रात्रि वेला में मिलन-सज्जा पहने हुए॥

मुहुर्मुहु गूँज-गूँज उठती है हुलूध्वनि।
उमड़ी आती हैं दल की दल पुरांगना॥

कहते पुरोहित हैं, धन्य है सुचरिता,
बंदीजन गाते, धन्य मृत्युजिता अमृता।
धू-धू कर प्रज्वलित हो उठी तभी चिता॥

बैठी हुई बाला दीप्त अचला योगासना,
गूँज-गूँज उठती श्मशान में है जय-ध्वनि।
हर्षित हो करती हुलूध्वनि पुरांगना॥

•

सामान्य क्षति

[दिव्यावदानमाला]

•

शीत माघ वातास, प्रवाहित
निर्मल सलिला वरुणा
दूर पुरी से ग्राम विजन में

घाट शिलामय चम्पक वन में
चलीं स्नान की सखियों के संग
काशी महिषी करुणा ॥

है जनहीन घाट यह, पथ यह,
आज राज शासन से
त्याग गए जन सरिता तट पे

फूले स्वल्प कुटीर निकट थे
विहगों का गंभीर कल कूजन
उठता है कानन से ॥

उत्तरोल है वायु उत्तरी
उत्तरोल है तटिनी
स्वर्ण ज्योति प्रतिबिम्बित निर्मल
पुलकोच्छल जल करता छल-छल
खचित लक्ष्मणि आँचल लहरा
चलती हो ज्यों नटिनी ।।

मृदु रमणी कंठों से लज्जित
आज हुआ कलकाकुल
ललित मृणाल-भुजा-विलास से
प्रमदा तटिनी रसोल्लास से
मधुरालाप-प्रताप-हास से
गगन हो उठा आकुल ।।

जब कर स्नान, कूल पर आई
निकल नारियाँ जल से
महिषी बोली, शीत से मरी
मेरी सकल देह है सिहरी
आग जलाओ अरी सहचरी
जाए शीत अनल से ।।

सखियाँ पर्ण इकट्ठा करके
चलीं कुसुम कानन में
करतीं सब कौतुक दीवानी
पकड़ टहनियाँ खींचा-तानी
बुला सभी को बोली रानी
दीपित स्मित आनन में ।।

हला, इधर आओ, वह देखो
कुटी पड़ी अजानी
उसी कुटी में दो लगा अनल
तप्त करूँगी मैं कर-पद-तल
इतना कह उमंग से विह्वल
हँसी हँस उठी रानी ॥

कहा मालती ने, 'रानी माँ !
यह कैसी है क्रीड़ा !
इन कुटियाओं का अधिवासी
होगा कोई यति सन्यासी ॥
कोई निर्धन दीन प्रवासी
पायेगा अति पीड़ा ॥'

रानी बोली, 'दूर हटा दो
इस दयार्द्र-हृदया को
अति दुर्दम कौतुक-क्रीड़ा-रत
निर्मम यौवन-मद में उद्धत
वनिताओं ने उन्मादिनिवत्
जला दिया कुटिया को ॥

लगा धूम घनघोर फैलकर
घूम-घूमकर उड़ने
पलक मारते ही हुंकार कर
प्रबल उदास उल्काओं की सर
शत-शत दुष्ट जिह्वा प्रसार कर
लगी गगन से जुड़ने ॥

फोड़ रसातल ज्यों लहराई
अनगिन ज्वाला-नागिनि
नभ की ओर नचाकर निज फन
मत्त हो उठी कर घन गर्जन
प्रलय मत्त रमणी श्रुति में ज्यों
गूंजी दीपक रागिनी ॥

कलरवगान प्रात विहगों का
बना रुदन भय-कातर
करते काक सदल कोलाहल
उत्तर वायु हो उठी चंचल
कुटिया से कुटिया दावानल
लगा फैलने आतुर ॥

चाट गई पल में झोंपड़ियाँ
प्रलय-लोलुपा रसना
निर्जन पथ से माघ प्रात में
मोद-क्लांत शत सखी साथ में
लौटी कुवलय लिए हाथ में
रानी अरुणा वसना ॥

राज सभा में थे विचार मुद्रा में
बैठे भूपति
दल के दल गृह हीन प्रजाजन
हुए उपस्थित, किया निवेदन
सबके सब संकोच त्रास से
थे संभ्रम-संशय-मति ॥

पथ में छोड़, नृपति बोले,
अब माँगो दर-दर रानी।
कुटी क्षणिक क्रीड़ा से तेरी
जितनी हुई राख की ढेरी
तुमको निज श्रम से अब उतनी
होगी कुटी बनानी ॥

एक वर्ष की अवधि तुम्हें है
इससे वापस आकर
सभा मध्य कर प्रणति, खड़ी रह
रामा समक्ष बताओगी यह—
हुई जगत में कितनी क्षति है
जीर्ण कुटीर मिटा कर ॥

पुजारिणी

•

होकर नमित, बुद्ध-पद-नख-कनिका
माँग लाए बिम्बिसार
निभृत प्रासाद-वन-मध्य कर प्रस्थापित
उस पर कौशल से यत्न से किए रचित
प्रति अपरूप मनोहर शिलामयस्तूप
शिल्प के शोभा के सार ।।

संध्या की वेला मे शुचि वसन पहन कर
राजवधू राजबाला
लाती थीं सजाकर सुमन गूँथ माल में
स्तूप पद देश में रुचिर स्वर्ण थाल में
अपने सुकोमल करों से जला देती थी
कनक-प्रदीप-माला

फिर जब अभिषिक्त हो गए अजातशत्रु
पिता के आसन पर
शोणित के बहा स्त्रोत देकर, प्रजा को कष्ट
निज पितृ-धर्म कर दिया पूर्णतया नष्ट

भस्म कर डाली बौद्ध शास्त्रराशि यज्ञानल
ज्वालाओं में सत्वर

घोषणा अजातशत्रु ने करा दी—
सब पुरनारियां हो विदिता
जगत में वेद विप्र नृपति के अतिरिक्त
कुछ भी नहीं है पूज्य कुछ भी नहीं है इष्ट
जीवन का सार यही, भूलने से इसको
होगी अति विपदा

उस शुभ्र शरद के दिवसावसान में
दासी नाम श्रीमती
पुण्यतोया सलिला में स्नान निमज्जन कर
पुष्पक प्रदीप स्वर्ण-थाल में वहन कर
खड़ी हुई राज-महिषी के पद में नमित
दृगों में ले विनती

सिहर सभय महिषी ने कहा, 'बात यह
याद क्या न मन में
यह अजातशत्रु ने लगा रखी है रटना
जो भी कोई स्तूप में करेगा अर्घ रचना
शूलि पर चढ़ेगा या जीवन बिताएगा
चिर निर्वासन में

लौट कर वहाँ से चली गई चुपचाप
वधू अमिता के घर

रखकर सम्मुख वे स्वच्छ स्वर्ण का मुकुर
बांधती थीं कोमल करों से सांवल चिकुर
यत्न से रही थीं आंक प्रभोज्ज्वल सिंदूर
शोभित सीमंत पर

श्रीमती को देख वक्र हो गई सीमंत रेख
कांप कांप गए हाथ
बोली, 'निर्बोध किस साहस के बल से
लाई है तू पूजा, री अभी यहां से चल दे
कौन आड़े आएगा हमारे ? कह,
होगा जब विपदा का वज्रपात

अस्त रवि-रश्मियों की आभा में गवाक्ष में
नत शिर सम्मुख
बैठी थीं कुमारी शुक्ला मौन और एकाकिनि
ध्यान से रही थीं पढ़ एक काव्य-आस्वादिनि
चौंक उठी सुनकर किंकिणि की मंद ध्वनि
हुई द्वार उन्मुख

श्रीमती को देख, द्रुत पद से गई निकट
पुस्तक को छोड़ कर
कहती है सावधान उसके यों कान में
'राजा का आदेश आज किसके न ध्यान में
आना चाहिए क्या इस भांति मृत्यु मुख में
बेतहाशा दौड़ कर।'

द्वार द्वार इसी याचना से फिरी श्रीमती
लिए हुए अर्घ थाली
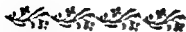
सबको पुकार कर कहा पुरवासिनी
आ गई है प्रभु पूजा बेला वरदायिनी
सुन, घर घर में है कोई भय गाते तो
कोई उसे देते तानी।

डूब चलीं दीप रवि-रश्मियां नगर सौध
समाकुल हो उठे।

पथ जनहीन हुआ, तिमिर विलीन हुआ
सकल तुमुल कल कोलाहल क्षीण हुआ
आरती के घंटों से प्राचीन राज देवालय
मुखरित हो उठे

शरद निशा के स्वच्छ निभृत तिमिर में
तारे अगणित जले

सिंहद्वार पर बज उठे घोर हैं विषाण
बंदीगण सम्मिलित छेड़ते हैं सांध्य तान
'मंत्रणा भवन में सभा हुई है समाधान !'
द्वारी यों पुकार चले।

ठीक तभी प्रहरी गणों ने देखा चौंक कर
हुई हो ज्यों उद्भ्रान्ति

राज उपवन के विजन अंतराल में
स्तूप-पद-मूल में गहन तम-जाल में
जल रहे हैं क्यों पंक्ति-पंक्ति लघु-लघु दीप
तारक-माला की भांति

आया पुर-रक्षक तुरंत तभी दौड़ कर
नंगी तलवार लिये
पूछा, 'कौन दुर्मति जो प्राण वारती
मरने के लिए क्यों उतारती है आरती ?'
'श्रीमती है नाम, दासी बुद्ध की हूँ' शब्द ये
मधुर सुनाई दिए।

उस दिन नारी के रुधिर ने पाषाण पर
नया इतिहास लिखा
उस दिन शरद के निर्मल निशीथ में
विजन प्रसाद-वन-वीथिका पुनीत में
बुझ गयी स्तूप-पदमूल में चकित सी
शेष आरती की शिखा।

प्रतिनिधि

बैठे हुए प्रातः काल
सतारा के दुर्ग भाल
महाराज शिवाजी ने देखा दृश्य एक दिन

पूज्य गुरु रामदास
द्वार-द्वार भिक्षा आश
फिरते थे नगरी में ज्यों बुभुक्षु धनहीन ।

सोचा यह कैसा काण्ड
गुरु और भिक्षा-भाण्ड
जो समर्थ, घर में न जिसके है दैन्य लेश

सब जिसके हस्तगत
राजेश्वर पदानत
जग में नहीं क्या उनको भी कामना का शेष ।

यह तो है अहोरात्र
भरना छिद्रित पात्र
व्यर्थ यह चेष्टा क्या न तृष्णा के शमन की ?

सोचा, यह देखना है
देना और कितना है
झोली भर जाय, इच्छा हो न भिक्षाटन की।

तत्क्षण लेखनी ले
लिखा कुछ, कौन जाने
कहा बालाजी को बुला, मंत्रणा सदन में

गुरु लिए भिक्षा आश
आएँ जब दुर्ग पास
पत्र यह रख देना, उनके चरण में।

गुरु चले गाते हुए
सम्मुख थे जाते हुए
कितने ही पंथी और कितने ही अश्व रथ

हे भवेश, हे शंकर
सभी को दिया है घर
मुझी को दिया है सिर्फ अडिग अनंत पथ।

अन्नपूर्णा माँ उदार
लिए हुए विश्व भार
उसकी छाया में सुख से है सर्व चराचर

तुमने ही दिगंबर
माँ से मुझे छीनकर
अपनी शरण ले, किया है निज अनुचर॥
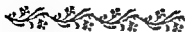
समापन कर गान
कर मध्याह्न-स्नान
आए दुर्ग द्वार गुरु रामदास जिस क्षण

बालाजी ने हो नमित
संभ्रम श्रद्धा जड़ित
पावन पदों में कर दिया पत्र अर्पण

गुरु ने सस्मित हास
उठा लिया अनायास
एक दृष्टि में ही पढ़ गए लिपि पहचानी,

पद-पद्म में नमित
आज थे समर्पित
स्वयं शिवा, सकल राज्य और राजधानी।

पत्र पढ़ रामदास
गए शिवाजी के पास
और उनसे यों बोले, 'वत्स, कहो, मैं भी सुनूँ।

राज्य यदि मुझे दोगे
फिर तुम क्या चुनोगे
कौन गुण तुम में है गुणी! कहो, मैं भी गुनूँ।'

आपकी सेवा में प्राण
हर्ष से करूँगा दान
कह, शिवाजी ने छुआ युगल चरण को

गुरु ने कहा, लो झोली
बन कर हमजोली
चलो नगरी में वत्स, आज भिक्षाटन को

शिवा गुरुजी के साथ
लिए भिक्षा-पात्र हाथ
फिरते मधुकरी की याचना को द्वार-द्वार

नृप को विलोक आगे
बालक घरों में भागे
माता को पिता को बुला लाते खींच बारबार।

अतुल ऐश्वर्य रत
(उनका भिक्षुक व्रत!)
देखो, यह देखो, शिला जल में है तैरती,

भिक्षा देते लज्जा-भरे
कंपित करों से डर
सोचते हैं, कैसी यह लीला है महत् की।

दोपहर दुर्ग भीऋ
शांत कर कर्म-काज
कर रहे विश्राम सब पुरवासी जन

इकतारे पर तान
छेड़, गुरु गाते गान
आनंद-पुलक-अश्रु-भासित हुए नयन।

अहे त्रिभुवन पति
ज्ञेय न तुम्हारी मति
तुम्हें न अभाव कुछ कैसी फिर याचना।

करते क्यों जनमन
भिक्षा हेतु विचरण
सभी के सर्वस्व-धन की क्यों बनी चाहना।

शेष दिवसांत में
नगरी के प्रांत में
सरिता के कूल, संध्या स्नान से ही परिवृत

रांध कर भिक्षा-अन्न
गुरु ने प्रसन्न मन
खुद पाया, कुछ दिया शिष्य को प्रसादवत्।

राजा बोले हँसकर-
'राज्यगर्व ध्वंस कर
आपने किया जो मुझे पथ का है भिक्षुक।

प्रस्तुत है यह दास
और क्या है अभिलाष
तत्पर हूँ सुख से सहने हेतु गुरु-दुख।

गुरु बोले, 'सुने, सुन
पाया है कठिन प्रण
उठाकर लेना होगा तुम्हें अब गुरु भार

आज्ञा तुम्हें मेरी यह
मेरे नाम, मेरा यह
राज्य अंगीकार करो वत्स अब पुनर्वार।

तुम्हें बना चुका विधि
भिक्षुक का प्रतिनिधि
राजेश्वर होगे तुम, किन्तु दीन उदासीन।

पालो वत्स, राजधर्म
जानकर मेरा कर्म
राज्य को चलाओ किन्तु रहो जैसे राज्यहीन।

वत्स तब लेओ यह
मेरे आशीर्वाद सह
मेरे पास मात्र यह भगवा जो गात्र वास,

वैरागी का उत्तरीय
तेरा ध्वज वन्दनीय'
बोले शिवाजी से यों समर्थ गुरु रामदास,

नृप शिष्य नत शिर
बैठा रहा नदी तीर
था प्रशस्त भाल आज राशिराशि चिंताग्रस्त,

थमा चुके ग्वाल वेणु
गोठ ओर चलीं धेनु
दूर प्रतीची में दिवानाथ हो रहे थे अस्त,

नगर लक्ष्मी

[कल्पद्रुमावदान]

दुर्भिक्ष ग्रस्त था श्रावस्तीपुर जब
गूंज उठा दसों दिशाओं में हाहारव
प्रश्न किया बुद्ध ने यों निज भक्तगण से
फिर तथागत ने पुछाया जन-जन से
'क्षुधित को कौन आज देगा अन्नदान
सेवा-व्रत यह कौन लेगा पुण्य प्राण।'

सेठ रत्नाकर ने सुन तत्काल
कर लिया लज्जा से नमित निज भाल
कहा मंद स्वर में यों फिर बढ़कर
आज है क्षुधार्त्त देव सारा ही नगर
शमित करूँ मैं क्षुधा· इसकी विषम
स्वामिन्, नहीं मैं इस कार्य में सक्षम।'

बोले तब विश्रुत सामन्त जयसेन
जो भी है आदेश अस्वीकार है मुझे न
लेता सहर्ष उसे निज शीश पर
होता मैं प्रसन्न यदि वक्ष चीरकर

रक्त देने से भी होता सिद्ध कोई काज
किन्तु मेरे घर में कहां है अन्न आज ।

निःश्वास लेकर यों बोले धर्मपाल
मैं क्या कहूँ ऐसा ही है मेरा दग्ध भाल
सोना जो उगलता था मेरा प्यारा खेत
चूस रहे आज उसी को अज्ञात प्रेत
राजकर देना ही है हो रहा कठिन
हुआ दीन हीन आज मेरे ऐसे दिन ।

एक दूसरे का मुख जोह रहे सब
उत्तर में कहने को पास भी क्या अब ।
निर्वाक् संत्रस्त उस सभाघर में
क्षुधा से व्यथित उन व्याकुल नगर में
मात्र दो करुण आँखें तथागत बुद्ध की
संध्या-तारा सदृश प्रदीप्त थीं, प्रबुद्ध थीं ।

धीरे-धीरे तभी उठ खड़ी हुई फिर
लज्जा से आरक्त भाल लज्जानत शिर
एक भिक्षुणी अनाथपिण्डक सुता
वेदना-विवर्ण अश्रुभीकरप्लुता
बोल उठी बुद्ध-पद-रेणु स्पर्श कर
मधुरिम कंठ में विनम्र भावभर ।

'स्वामी ! यह भिक्षुणी अधम सुप्रिया
इसीने आदेश भार वहन किया
क्रन्दन जो करते हैं सर्वहारा जन
प्रिय हैं मुझे क्यों हों वे मेरे ही सुजन

अन्न वितरण को न कोई भी तैयार
लेती हूं मैं शीश पर आज से ही भार।'

विस्मय मान, बात सबने सुनी
भिक्षु-कन्या, तुम तो हो मात्र भिक्षुणी
उकसा रहा है तुम्हें कौन अहंकार
जो कि लिया तुमने है यह गुरु भार
कैसे कर पाओगी कठिन यह काज
भिक्षुणी हैं, पास क्या तुम्हारे कहो आज।'

कहा यों उन्होंने कर सबको नमन
'मात्र यह भिक्षा पात्र ही है मेरा धन
मैं तो एक दीनहीन कन्या मात्र हूं
सर्वाधिक दान की दया की पात्र हूं
पाऊँगी सभी की दया करुणा का लेश
होगा यों जयी अवश्य प्रभु का आदेश।

है मेरा भंडार सदा अक्षर, अजर
रक्खा वह आप सबके ही घर-घर
आप सब चाहेंगे तो होगी धर्म-जय
भिक्षा-पात्र से ही होगा एक भी न क्षय
भिक्षा-अन्न से ही बचाऊँगी वसुधा
मिटाऊँगी भीषण दुर्भिक्ष की क्षुधा।

•

निज अभ्युत्थान हेतु प्राप्ति वरदान हेतु
की थी शिवाराधना
एक दिन, रात शेष, स्वप्न में हुआ आदेश
पूर्ण होगी प्रार्थना ।

जाओ जमुना के तीर, गोस्वामी के हो अधीर
पकड़ लो दोनों पांव
उन्हीं को जनक जानो, पास है उन्हीं के मानो
रिद्धि-सिद्धि का उपाय ।

सुन कथा सनातन होगए आतुर मन
आज क्या हमारा है
जो भी कुछ था सकल त्याग आया हूं मैं चल
मिला ही सहारा है ।

तभी विस्मरण टूटा, साधु यों पुकार उठा
ठीक तुमने कहा
एक दिन नदी तट, मिला मुझे रेणु पर
पारस माणिक्य था ।

सोच कभी आए योग, दान में हो उपयोग
दाब दिया बालुका में
उठा ले जाओ ठाकुर, दुःख हो तुम्हारा दूर
उसके छूने न छूने ।

शीघ्र विप्र ने जाकर, खोदा बालुका-निकर
पारस माणिक्य पाया
लोहे के दो मंत्र-पट, सोने के हो उठे झट
जैसे ही उसे छुआया ।

विप्र तब रेत पर, विस्मय से, बैठकर
करने लगा मनन
यमुना कल्लोल गान, चिंतित के कान कान
करती है क्या कथन।

नदी पार रक्त छवि दिवसांत क्लांत रवि
हुआ अस्ताचल गत
तब विप्र उठकर साधु पद लेट कर,
बोला अश्रु गद्‌गद।

जिस धन से हो धनी, मणि को न गिना मणि
मैं उसी की कणि को
मांगता हूं नत शीश,' कह यों नदी के बीच,
फेंक दिया मणि को।

दीन दान

•

किया निवेदन राज-भृत्य ने महाराज से सविनय
नहीं आपके स्वर्णिम देवालय में लेकर आश्रय
साधु शिरोमणि भक्त नरोत्तम आज लगाकर आसन
पथ के अंचल तरु छाया तल करते हैं संकीर्तन
श्रद्धा-भक्ति-विभोर भक्तगण घेर उन्हें दल के दल
उद्वेलित आनंद अश्रु से धोते हैं धरणी-तल।

शून्यप्राय देवांगन, ज्यों तजकर स्वर्णिम मधु-भाजन
कमल गंधमाती भृंगावलि कर द्रुत पंख प्रसारण
उड़ी चली जाती गुंजित उन्मीलित पद्मविपिन में,
त्यों नर-नारी ललक-पुलक से अमित मगन में मन में
डाल उपेक्षा-दृष्टि स्वर्ण-मंदिर पर दौड़े आते
ठीक वहाँ उस पंथ किनारे जहाँ कि वे हैं पाते—
एक भक्त का पूर्ण प्रफुल्लित सुरभित हृदय कमल है
वितरित करता यहाँ मर्त्य में स्वर्ग-सुरभि निर्मल है
एकाकी देवता रत्नवेदी पर देवालय में।'

यह सुनते ही राजा के मन आया क्षोभ हृदय में
सिंहासन से उठकर वह चल दिया जहाँ तरु-तल में
थे तृणासनासीन साधु, कर विनती चरण युगल में

कहा उन्हें, 'दृष्टव्य नृपति निर्मित यह नव्य-निकेतन
स्वर्णशीर्ष यह, यह नभस्पर्शी क्यों कर इसका वर्जन
करते हो स्तवगान देवता का पथ में निर्जन में ?'
कहा साधु ने, 'नहीं देवता है उस स्वर्ण-सदन में'
बोल उठा राजा सरोष, 'क्या कहते हो संन्यासी
बात नास्तिकवत करते क्यों होकर प्रभु-विश्वासी ?
क्या वह मंदिर शून्य, वहाँ पर नहीं देवता
स्थित है ?
अरे वहाँ मणि-मूर्ति रत्न-सिंहासन पर दीपित है ।'
कहा साधु ने, 'शून्य नहीं वह, राज्य दंभ से पूरित
नहीं जगत्पति को, तुमने है किया स्वयं को स्थापित।'
भ्रू कुंचित कर बोले राजा, 'बीस लाख मुद्रा से
निर्मित किया अनिंदित मंदिर अंबर-भेदी हमने
पूजा मंत्रों से अर्पित कर किया ईश को दान
तुम कहते हो उस मंदिर में नहीं कहीं भगवान ।'
शांत वदन यों कहा साधु ने, 'वह्नि-दाह से दीन
बीस सहस्र प्रजा जिस वत्सर अन्न-वस्त्र गृह-हीन
द्वार तुम्हारे से लौटी ले असफल करुण पुकार
हो निरुपाय कराल अवधि वह काटी किसी प्रकार
गुहागर्भ में पथ प्रांतर में तरु तल में या वन में
या यत्रतत्र विदीर्ण जीर्ण जर्जर मंदिर-प्रांगण में ।
बीस लाख स्वर्णिम मुद्राएँ दीन प्रजा को देकर
स्वर्ण दीप्त मंदिर तुमने यह उसी वर्ष बनवा कर
था देवार्पित किया, उसी दिन बोले यों भगवान
है मेरे अनादि घर में अगणित प्रकाश द्युतिमान
इस अनंत नीलाभ गगन की है हर भित्ति चिरंतन

सत्य शांति औ दया प्रेम जो स्वार्थी क्षुद्र कृपण जन
जिनसे आश्रय पा न सके उनके गृहहीन प्रजागण
वे करते गृह दान मुझे, कह प्रभु चल पड़े उसी क्षण
पंथ प्रांत में तरु तल में वे दीन-संग दीनाश्रय
गहन सिंधु में स्फीत फेन ज्यों सारशून्य और मृण्मय
वैसे ही तव परम शून्य यह मंदिर है भूतल पर
स्वर्णदर्प बुद्‌बुद्।'
राजा जल उठे रोष से सत्वर,
कहा, 'भंड, पामर, वंचक, तुम राज्य हमारा तजकर
चल दो इसी मुहूर्त,' साधु तब बोले शांत मधुर स्वर
'भेजा जहाँ भक्त-वत्सल को उस निर्धन के धन को
उसी स्थान में कर दो निर्वासित प्रभु के इस
जन को।

पुरातन भृत्य

•
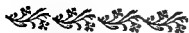
ओहो ! चेहरा है कैसा ! भूत और प्रेत जैसा ।
निर्बोध अति घोर ।

चाहे कुछ भी खो जाय, गृहिणी की यही राय
केष्टा बेटा ही चोर ।

उठते क्या, बैठते क्या, उसे कोसता हूँ सदा
किन्तु ज्यों अनसुना

जितना पाता है बेंत, उतना नहीं वेतन
तब भी न चेतना

बहुत प्रयोजन, पुकारता हूँ प्राणपण
चीत्कार करता हूँ केष्टा

करूँ कितनी भी त्वरा, किन्तु सुनता न मरा
छान मारता हूँ सारा देष्टा

देता हूँ जो एक चीज इतनी उसे तमीज
पल में बनाता तीन

तीन देता हूँ तो शेष, रहती है सिर्फ एक
शेष हो जाती विलीन

निद्रा में है ऐसा सधा, जहाँ तहाँ मिले सोता
दिन दोपहर सदा
गालियों की मैं बौछार, छोड़ता हूँ बार-बार
पाजी, हतभाग्य गधा।
तब खड़ा द्वार पास, करता है मंद-हास
जल उठता है पित्त
तो भी उसका प्रभार ! त्यागना उसे दुभार
बड़ा पुरातन भृत्य
कहती है घर की कर्त्री लिए हुए रुद्र मूर्ति
रक्खो यह घर बार
केष्टा को लेकर संग रहो अति सानंद
मान ली मैंने हो हार
मानता नहीं शासन, मिलना बसन बासन
असन-आसन सब
क्या पता नहीं क्या रहा पैसा जा रहा है कहां
बिगड़ गया है ढब
जाना अब है बजार, सारा दिन होता पार
देखना भी दुष्कृत्य
करो यदि चेष्टा तो, छोड़ इस केष्टा को
क्या न और मिले भृत्य
सुन उठा उद्वेग, चला क्रुद्ध मैं सवेग
चोटी खींच उसे लाता
कहता हूँ उसे, पाजी ! पानेगा न पाजी पाजी
पास से मुझे हटाता

धीरे से जाता है चला, सोचता हूँ, टली बला
किन्तु अगले ही दिन
हुक्का हाथ में बढ़ाये, खड़ा हुआ मुँह बाए
अक्कल का दुश्मन
है अति प्रसन्न मुख, नहीं उसे कोई दुख
अति एकातर-चित्त
छुड़ाने पै भी न छोड़े, कोई फिर हाथ जोड़े ?
वाह पुरातन भृत्य !
उस वर्ष अनायास, हुआ कुछ पैसा पास
किया कुछ था व्यापार
हुआ तब यह मन, पुण्य-धाम वृन्दावन
चला जाय एक बार
था कुटुम्ब भी तो पर, चलने को तत्पर
समझाया सानुनय
जो भी है पति का पुण्य, वही है सती का पुण्य
व्यर्थ क्यों बढ़ाएँ व्यय !
किन्तु बैठ रस्सारस्सी ओर कर कस्साकसी
बाँध बोरिया-बसन
कड़े चूड़ी बजाकर, बक्स-पेटी सजाकर
पत्नी ने किया रुदन
परदेश में जाकर, केष्टा को ले जाकर
कष्ट अति होगा नाथ
मैंने कहा, राम राम, ऐसा भी क्या कुहराम
निवारण तो है साथ

धकं-धक दौड़ी रेल, उतरा मैं देखा खेल
आया जब वर्दमान
आ रहे थे कृष्णकांत आनन अति प्रशांत
लेकर तमाखू पान
स्वदायें अनुचित उसको यों अगणित
कितनी सही हैं नित्य
कितना भी देखूँ दोष, फिर भी न आता रोष
देख पुरातन भृत्य।
आया जब श्रीधाम, दक्षिण में और वाम
आगे पीछे चारों ओर
पंडों ने लिया जो घेर, देहका हुआ जो ढेर
प्राण डाले झकझोर
मिले हम पांच सात, लिया गृह एक साथ
बन्धु भाव अमलिन
किया यों वहीं निवास, मन में बँधी यों आस
चैन से कटेंगे दिन
किन्तु वहीं व्रजवासा, वहीं हाय वनवासा
वहीं वनमाली कंत
पास दंत, हा अनंत, कहाँ वह है बसंत
हुआ हमें ही वसंत
बन्धु जो भी थे मावत्, सारे ही थे स्वप्नवत्
छोड़ चले मेरा संग
मैं अकेला, सूना, घर, ज्वर-भार व्याधि-भार
शिथिल हुआ सारा अंग

निशिदिन दीन हीन, मैं पुकारता हूँ क्षीण
केष्टा आ जा रे पास

दिन कुछ ही हैं शेष, यहाँ इस दूर देश
कहाँ बचने की आस ?

मुख उसका विलोक, और जाग उठा शोक
क्यों हो वह मेरा वित्त

निशिदिन दत्तचित्त, रहता सिरहाने स्थित
मेरा पुरातन भृत्य

मुख में देता है जल, फिर पूछता कुशल
बैठ सिरहाने पास

जागता है अपलक, आती भी नहीं झपक
मुख में नहीं है ग्रास

कहता है बारबार, शीघ्र होगा उपचार
स्वामी नहीं करें भय

देश लौटोगे अचिर, ठकुरानी माँ को फिर
देखोगे, है निश्चय

कर मैं आरोग्य लाभ, खड़ा हुआ शय्या त्याग
हुआ वह ज्वराक्रांत

ओट कर मेरा भार, हुआ अन्त हा-कपाल !
स्वयं वह व्याधि-क्लांत

हुए उसे संज्ञाहीन, बीत गए दिन तीन
मंद हुई नाड़ी आज

त्यागने चला था जिसे, कितनी ही बार अरे
वही आज गया त्याग

बहुत दिनों के बाद, हृदय में ले विषाद
लौटा घर, कर तीर्थ

किन्तु आज साथ नहीं, हाय चिरसाथी वही
मेरा पुरातन भृत्य ।

पूज्यपाद बुद्ध भगवान आज
भाग्य से हमारे आए पुर मांझ
उनके पदों में दूंगा उपहार' ।

माली ने कहा यों 'स्वर्ण एक माशा
पाऊँगा मैं मूल्य, यही मुझे आशा,
पथिक देने को हुआ तत्पर ।

अति समारोह साथ इसी काल
लिए हुए बहुपूजा अर्घ थाल
नृपति अचानक आए बाहर ।

महाराज राजेन्द्र प्रसेनजित
गाते हुए मंगल मधुर गीत
जा रहे थे बुद्ध दर्शन हेतु,
देखा जो उन्होंने असमय फूल
पूछ ही तो बैठे 'कितना है मूल्य
लेना प्रभु-पद अर्पण-हेतु ।

माली ने कहा विनीत, 'हे राजन्
अभी अभी एक स्वर्ण माशा पण
इसका लगा चुके ये महाशय,'
'चिन्ता नहीं, दस माशा देंगे हम'
'बीस माशा' पांथ भी नहीं था कम
करना दोनों ही चाहते थे क्रय ।

'मैं ही लूंगा, दोनों यही ठानते
दोनों ही नहीं हैं हार मानते
मूल्य चढ़ता ही गया पल-पल
माली के यों भाव हुआ हृद्गत
दोनों जिसके लिए विवाद-रत
मैं ही उसे दूं तो मिले क्या ही फल।

बोला वह जोड़कर दोनों कर
क्षमा करें आप मुझे दया कर
इसको न मेरा बेचने का मन।
और वह दौड़ गया तत्क्षण
बुद्ध जहां बैठे थे प्रसन्न मन
उद्भासित था सकल उपवन।

बैठे थे लगाए हुए पद्मासन
विकसित आनन प्रशांत मन
निर्विकार सच्चिद् आनंद मूर्ति।
दृष्टि से थी झरती अमल शांति
स्फुरित अधर पर दीप्त कांति
करुणा की सुधास्निग्ध हास्य-ज्योति।

देखते ही हो गया सुदास स्तब्ध
दृग विस्फारित, मदमत्त मुग्ध,
मुख से न बोल कुछ निकले,

गिर पड़ा सहसा भूतल पर
पकड़ करों में पद दृढ़ कर
पूज्य पाद प्रभु के चरण में।

अमृत की राशि बरसाते हुए
बुद्ध ने यों पूछा मुसकाते हुए
'कहो वत्स, क्या तुम्हारा प्रयोजन?'
व्याकुल सुदास ने कहा यही
'प्रभु चाह और कुछ भी नहीं
पाऊँ एक पद-पद्म-रजकण' ॥

वे दिन

•

काश, कि जो मैं जन्मा होता कालिदास के काल में
हो जाता दैवात् दशम् मणि नव रत्नों की माल में।

स्तुति का एक श्लोक गा देता
नृप से प्रतिफल में पा लेता
उज्जयिनी के विजन प्रान्त में
एक सदन उपवन परिवेष्ठित
रेवा के तट, चम्पा के तल
जुड़ती रसिक सभा संध्याञ्चल
क्रीड़ागिरि पर मुक्तकंठ से
तान छेड़ता मैं आह्लादित।

जीवन तरी बही जाती यों मंदाक्रांता ताल में
काश, कि जो मैं जन्मा होता कालिदास के काल में।

चिंता को देता जलाञ्जली
होती कोई भी न त्वरा
मृदु पद से चलता यह जीवन
क्योंकि नहीं हो मृत्युजरा

षट ऋतु में सम्पूरित होकर
मिलन घटित होता स्तर-स्तर पर
छः सर्गों में जीवन क्रम की
होती प्रथित अपूर्व छटा
विरह वेदना की तलशायिनि
तप्त अजस्त्र अश्रुमंदाकिनी
मंद-मंद संचारित होती
रचती कोमल करुण कथा

हो आषाढ़ी मेघ संतरित मंथर-मंथर अलस भरा
मृदु पद से चलता यह जीवन ज्यों कि तनिक भी हो न त्वरा।

खिल-खिल उठता बकुल
प्रिया के मुख-मदिरा उन्माद से
पदाघात रोमांच जगा देता
अशोक के गात में
प्रिय सखियों के मधुर नाम सब
करते ललित छंद पूरित रव
ज्यों रेवा के कलित कूल में
कल हंसों की कल ध्वनियाँ
कोई नाम लता, मधूलिका
कोई ललिता, आम्रपालिका
अंजलि, मंजुलिका, मंजरिणी
देते कितनी झंकृतियाँ।

सभी कुंजवन में आ जातीं चैत चाँदनी रात में
पदाघात रोमांच जगा देता अशोक के गात में।

धारण कर कुरुवक का चूड़ा
श्यामल चिक्कण केश में
लीला-कमल न जाने क्यों
ले कोमल करतल देश में
अलक सजातीं कुंद फूल से
शिरिष झूलते कर्णमूल से
कनक मेखला में लटकातीं
नवनीपों की मालाएँ
तन को धारा-यंत्र-स्नान दे
अलक जाल में धूप धूम ले
लोध्र फूल की शुभ्र रेणु को
मलतीं मुख पर बालाएँ
कालागुरु गुरुगंध रमी रहती वासक परिवेश में
शोभित होती कुरुवक माला श्यामल चिक्कण केश में।
कुंकुम की पत्रक-रचना से
रहता उन्नत वक्ष ढँका
अंचल के अंतर में रहता
हंस-मिथुन का चित्र टँका
विरहातुर आषाढ़ मास में
बाट जोहती कंत आश में
एक-एक पूजा प्रसून रख
दिवस काटतीं गिन-गिन कर
सटा वक्ष से निज प्रिय वीणा
गान छेड़तीं, गा पाती ना
रूक्ष अलक, मुख म्लान दृगों से
आँसू झरते झर-झर-झर

मिलन निशा में बज-बज उठता पद में जोड़ा नूपुर का
कुंकुम की पत्रक-रचना से रहता उन्नत वक्ष ढँका

अपनी पट्टसारिका को वे
प्रिय का नाम पढ़ा देतीं
पटुता से, कंकण झंकृत कर
भव्य मयूर नचा देतीं
ले कपोत को कर में सुख से
सहलातीं मुख को निज मुख से
चुगा सारसी को देतीं वे
कुड्मल कोरक ला लाकर
वेणी को आंदोलित करतीं
बात शौरसेनी में करतीं
लिपट गले से, 'हला पियो सो !'
कहतीं कसमें खा-खा कर

तरुण आम्र के आल बाल में दल की दल पानी देतीं
अपनी पट्ट सारिका को वे प्रिय का नाम पढ़ा देतीं

मैं भी उस नवरत्न सभा में
एक ओर बैठा रहता
दिङ्नाग को देख, दूर से
श्रद्धापूर्ण नमन करता
मेरा नाम मुझे है भाता
होता वैसा ही अच्छा-सा
विश्वसेन या देवदत्त
अनुभूति, कि ऐसा ही कोई

छंद सग्धरा या मालिनि में
बना प्रिया की नख-शिख स्तुति में
रच देता दो चार पोथियाँ
मैं भी तो छोटी मोटी

शीघ्र श्लोक-रचना समाप्त कर गृह की ओर गमन करता
मैं भी उस नवरत्न सभा में एक ओर बैठा रहता
काश कि जो मैं जन्मा होता कालिदास के स्वर्ण काल में
बँध जाता मैं न जाने किस मालविका के रूप जाल में

किसी मदन उल्लासोत्सव में
वेणु मुरज वीणा कलरव में
गंध अंध मंजरित कुंज वन
के अति गोपन अंतराल में
किसी फाल्गुनी शुक्ल निशा में
यौवन की उद्दाम दशा में
किसी सुन्दरी से हो जाती
भेंट नृपति की चित्रशाला में

रुक जाती वह छल से आँचल अटका कर सहकार डाल में
काश कि जो मैं जन्मा होता कालिदास के स्वर्ण काल में

हाय कहाँ है भोले कवि, मम
कालिदास का काल रे
पंडितजन, करते विवाद हैं
लेकर तिथि, मिति, साल रे
बीत गया वह सकल यश है
इतिवृत्त हो गया स्तब्ध है

जो भी गया, उसे जाने दो
मिथ्या है यह कोलाहल
किन्तु उसी के साथ गईं, हा,
उस दिन की वे पौर नारियाँ
कहाँ चतुरिका मालविका का
ग्रौर निपुणिका का वह दल

कौन स्वर्ग ले गया मर्त्य से वरमाला का थाल रे ?
हाय, कहाँ है, भोले कवि, ग्रब कालिदास का काल रे ?

जिनके साथ न हुग्रा मिलन भी
वे पृथ्वी की सुरांगना
चिर विच्छेद व्यथा से मुझको
बना रही हैं ग्रन्यमना
तब भी मन में यह प्रबोध है
वैसा ही बकुल प्रमोद है
यद्यपि उसे नहीं मिल पाता
नारी मुख-मद का छींटा
फागुन में ग्रशोक छाया में
ग्रलस प्राण, लालस काया में
ग्रब भी है वातास दक्षिणी
लगता वैसा ही मीठा

मिलती है सांत्वना विविध विधि, होता हूँ मैं शांत मना।
यद्यपि ग्रब इस मर्त्यलोक में रहीं नहीं वे सुरांगना

पर इस क्षण जो वर्तमान हैं
इसी मर्त्य नरलोक में

अच्छी लगती इनकी छवि यदि
कवि गुरु इन्हें विलोकते
सभी बूट मोजे हैं पहने
और चाल के तो क्या कहने
रंग ढंग हैं सभी विदेशी
बातचीत में चाल में
किन्तु वही अब भी कटाक्ष है
नयन कोण दे रहा साक्ष्य है
जो कटाक्ष देखा जाता था
कालिदास के काल में
मैं न मरूँगा अरे निपुणिका-मालविका के शोक में
अन्य नाम से वर्तमान वे सभी इसी भू लोक में।
अतः घूमता इसी गर्व से मत्त
हर्ष उन्माद में
मैं जीवित सशरीर, शेष है
कालिदास तो याद में
उनके युग का स्वाद गंध सब
मिलता मुझको मृदुल मंद अब
पर न महाकवि को मिल पाया
इस युग का किंचित कण भी
वेणी लहरा, डाल मोहिनी
चलतीं आधुनिका विनोदिनी
कर सकते थे कहाँ महाकवि
इनका कल्पित चिंतन भी
प्रिये तुम्हारी प्रणय दृष्टि का पाकर तरुण प्रसाद मैं।
कालिदास को हरा, गर्व से फिरता हूँ उन्माद में।।

बन्दी वीर

•

पंचनद तीर
वेणी का जूट बाँध
पल में गुरु-मंत्र से
जाग उठे सिक्ख
निर्मम निर्भीक।
हो उठा प्रतिध्वनित
जल-थल में चतुर्दिक
सहस्रों कंठों से
'गुरुजी की जय'
जाग उठे सोए सिक्ख।
जागृति की वेला में
नवोदित सूर्य को
देखा अनिमेष।
'अलख निरंजन'
टूट गए बंधन
जय के निर्घोष का
नभ व्यापी कम्पन
करता भय भंजन।

वक्ष पास, सोल्लास
बजती असि झन-झन।
आसमान लरज उठा।
पंचनद गरज उठा
'अलख निरंजन'
फिर वह भी आया दिन
पांच नदियों के पुण्य-
पावन दस तीरों पर
घिर-घिर कर जुड़ आए
निर्द्वन्द्व मुक्त उन्मत्त
सब आए शंकाहीन
चित्त भावना विहीन
था जिनके जीवन का
एक ध्येय एक सत्य
'जीवन क्या, मृत्यु क्या
दोनों ही मनुज भृत्य'
उधर, दूर दिल्ली के
महलों में हरमों में
बारबार बादशाहों
की मीठी नींद
उचट-उचट जाती थी।
जिनके उदय कंठ
अपने जय-घोष से
तोड़ कर नीरवता
निविड़ निशीथ की
करते नभ मंथन हैं।

किनके प्रोज्वल मशाल
करते हैं दीप्त
वह्नि किरणों से नभ-भाल।

पंचनद तीर पर
मुक्त हुई है क्या
गुरु भक्तों की रक्त लहर।
लक्ष-लक्ष वक्ष धीर'
दल के दल प्राण आज
विहग तुल्य हो अधीर
छूट चले व्याकुल हो
जैसे निज नीड़ों को।
जननी के भाल पर
हर्षित हो रक्त-तिलक
किया वहाँ वीरों ने
पंचनद तीर पर।
मुगलों के, सिक्खों के
इस दुरंत रण में
मरणालिंगन में
गुँथ गए ताल ठोक
परस्पर दोनों पक्ष
दंशन-क्षत श्येन-विहग
जूझ रहा जैसे हो
मारी भुजंग से।
उस दिन समर में
'जय, गुरुजी की जय'

हुंकारे सिक्ख वीर
मत्त मुगल रक्त तृषित
दीन, दीन गरजे ।

गुरुदासपुर गढ़ में
तूरानी सेना के हाथों
प्रभु का प्यारा
बंदा जब बंदी हुआ
सिंहवत शृंखलागत
बाँधकर ले आया गया
नगर दिल्ली में ।
आगे चला मुगल सैन्य
भालों की नोकों में—
छिन्न सिक्ख मुंड टाँक
पथ में उड़ाता धूल ।
पीछे चले आते थे
सिक्ख सात सौ, जिनकी
खन् खन् खन् बज
उठती थीं लौह-जंजीरें ।
राज-पथ पर था समाता नहीं
जन-समूह ।
खुल गए झरोखे थे—
गरजे सिख, 'गुरु की जय'
प्राणों का भय भूल ।
मुगलों का, सिक्खों का
दोनों का सैन्य-दल
चला आज दिल्ली के

पथ में उड़ाता धूल।
होड़-सी मची थी
कौन करे प्रथम प्राणदान।
बलि के लिए मची थी
आपस में खींचतान।
प्रति दिवस प्रातःकाल
'जय, गुरुजी की जय'
पुकार कर शत-वीर
वधिक-जनों के हाथों
पंक्ति-बद्ध क्रम-क्रम से
करते थे शीर्ष दान।
इसी भाँति सप्ताहांत
सप्तशत प्राणों के
निःशेष होने पर
बंदा की गोद में
काजी ने रख दिया
बंदा का एक लाल
और कहा, 'तुमको वध
इसका करना होगा
अपने ही हाथों, बिना
सहमे या झिझके।'
कह कर यों पटक दिया
उस नौनिहाल को
भाई के लाल को
जो था शृंखलाबद्ध—
बन्दा की गोद में।

कुछ न कहा मुख से,
बंदा ने धीरे से
नन्हें से लाल को
लगा लिया वक्ष से।
क्षण भर, फिर, मस्तक पर
रक्खा निज दक्षिण कर
सिर्फ एक बार चूमा
उसके उष्णीश को।
और फिर धीरे से
लेकर कटार त्वरित
अपने कटि बंध से
बालक का मुख निहार
कहे बस यही शब्द
चुपके से कान में
'जय, गुरुजी की जय,
नहीं पुत्र कोई भय'
उस किशोर आनन पर
पल भर को दीप्त हुई
अभय किरन सोत्साह
काँप उठा सभातल
कोमल, पर, ओजस्वी
उस किशोर-कंठ से
बंदा का मुख निहार
बालक उठा पुकार
'गुरु जी की जय !
नहीं कुछ भय !'

श्रेष्ठ भिक्षा

[अवदान शतक]

•

भिक्षा प्रभु बुद्ध हेतु भिक्षु आज माँग रहा
कौन पुरवासी, इस बेला, है जाग रहा
यों अनाथ पिंडक ने कहा सिन्धु-स्वन में
प्राची के आँगन में सद्योदित बालारुण
खोल रहा था लालस, सस्मित अरुणिम लोचन
झाँकती सौधों की ओट में, गगन में।
वैतालिक दल भी अभी था प्रगाढ़ निद्रा-लीन
कुछ अभी तक था हुआ मांगलिक गान क्षीण
दुविधायुत स्वरों में पिक ने छेड़ी मृदु कुहू तान
भिक्षु यों पुकार उठा 'निद्रारत हे पुरजन!
भिक्षा दो, करो दूर तंद्रा का सम्मोहन'
सुप्त परिजन, यह सुन, सिहर, हुए कम्पमान
बोल उठे साधु, सुनो, वर्षा के मेघ सदय
देते हैं नवजीवन जग को, कर निज को क्षय,
त्याग सकल धर्मों का सार है भुवन में'

कैलाश पर्वत के शिखरों से दूरागत
मंद्र गुरु गंभीर भैरव संगीतवत
गूँजी वह वाणी सुख-तंद्रिल भवन में।

राजा ने जागकर, सोचा, वृथा राज्य-धन
सोचा गृहस्थी ने, तुच्छ मिथ्या यह आयोजन
अश्रु अकारण करतीं विसर्जन बालाएँ
जो कि विकल हृदया यों ललित सुख-विलास-लीन
लगता हो जैसे गत यामिनि की छवि-विहीन
स्खलित दलित शुष्क कामिनी की म्लान मालाएँ।

खुल गए वातायन, गली-गली घर-घर
निद्रा हुई भंग, नयन झाँक रहे स्तर-स्तर
कौतुक से अंधियारे पथ में रहे निहार
जागो, रे जागो, दो भिक्षा यही छेड़ टेक
निद्राहीन दृग से सुप्त लोगों की ओर देख
शून्य राज-पथ में हैं चलते भिक्षुक पुकार।

फेंक रहे पथ में धनिक धनिकाएँ सत्वर
रत्न-मणि-माणिक-कणिकाएँ मुष्टि भर-भर
कोई तो मस्तक मणि कोई तो कंठहार
लाते हैं धनिक स्वर्ण थाल भर-भर कर
दूर पड़े रहते, साधु डालते नहीं नजर
कहते, दो भीख, जो कि प्रभु को हो अंगीकार।

वसन और भूषण से ढक गयी धरती
कनक रतन बिजली है चकाचौंध करती
झोली से शून्य, भिक्षु कहते पुरजन से

पौरजन कान खोल, करो सब अवधान
भिक्षु श्रेष्ठ जो हैं तथागत बुद्ध भगवान
दो उन्हें तुम्हारो सर्व श्रेष्ठ निधि जतन से'।

लौट गए राजा और लौट गए नगर सेठ
प्रभु के उपयुक्त किन्तु मिली नहीं कोई भेंट
नगरी विशाल हुई लज्जा से नत आनन

चटक उठी धूप और जाग उठा सारा देश
महानगरी का हुआ दीर्घ पथ निःशेष
साधु ने किया प्रवेश कानन में आकुल मन।

एक दीन नारी थी भूतल करती शयन
अंगों पर उसके थे नहीं वसन आभूषण
आकर वह नमित हुई साधु-पद-कमल में

रह कर अरण्य अंतराल में किसी प्रकार
एक मात्र वस्त्र खंड गात से लिया उतार
बाहु बढ़ा, फेंक दिया पथ में, भूतल में।

भिक्षु ऊर्ध्व-भुज से तब कर उठा जयनाद
'धन्य धन्य मातः, धन्य, स्वस्ति, आशीर्वाद
साध महाभिक्षुक की पूरी की पल में'

चल दिया संन्यासी नगरी को तज कर
छिन्न वह चीर-खंड धर कर निज सिर पर
भेंटने को उसे बुद्ध पद-नख-छवि-तल में।

●

प्रार्थनातीत दान

जब पठान बाँध कर लाए बंदी सिख दल।
हुआ शहीदगंज में, रक्तिम धरणी का तल।

तब नवाब ने कहा, 'सुनो, तरसिंह वीरवर
उपकृत करना चाह रहे हम तुम्हें क्षमा कर।'

यों नवाब को दिया वीरवर ने प्रत्युत्तर,
'हुई मुझी पर है इतनी अनुकम्पा क्यों कर।'

'तुम हो वीर, इसीसे तुम पर क्रोध नहीं है
केश काट कर दे दो, बस अनुरोध यही है।'

'इस करुणा, इस कृपा हेतु चिर-ऋणी रहूँगा।
माँगे से भी अधिक, केश संग सिर भी दूँगा।'